अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 2, अप्रैल–जून 2026, पृष्ठ 73–81
जर्नल वेबसाइटः
https://anubodhan.org
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट) 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n2.2026.063

बौद्ध अपोह सिद्धांत की समकालीन सामाजिक-दार्शनिक उपादेयता : भाषा, सत्य और सत्ता के संदर्भ में

भीम शंकर मीना [1]

प्राप्तिः 10 जून 2026 / स्वीकृतः 19 जून 2026 / प्रकाशित ऑनलाइन: 26 जून 2026
Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र का महत्वपूर्ण उद्देश्य यह बताना है कि बौद्ध दार्शनिक परंपरा में विकसित अपोह सिद्धांत की यह विशेषता रही है कि उसने भाषा को केवल विचारों के संप्रेषण का साधन न मानकर, उसे ज्ञान–निर्माण, व्यवहार और सामाजिक संबंधों से गहराई से जोड़कर देखा है। अपोह सिद्धांत इसी दृष्टि का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रतिफल है, जिसके अनुसार शब्दों का अर्थ किसी स्थायी या सार्वभौमिक सत्ता से नहीं, बल्कि भिन्नता, निषेध और व्यवहारिक संदर्भों के माध्यम से निर्मित होता है। शोध पत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि समकालीन समाज में धर्म, दर्शन और राजनीति जिस प्रकार सत्य और सत्ता के दावों के माध्यम से स्वयं को स्थापित करते हैं, उसमें भाषा की भूमिका अत्यंत निर्णायक हो जाती है। धार्मिक विश्वास, दार्शनिक तर्क और राजनीतिक विचारधाराएँ भाषा के माध्यम से ही अर्थ ग्रहण करती हैं और सामाजिक यथार्थ को प्रभावित करती हैं। अपोह सिद्धांत इन भाषिक प्रक्रियाओं को समझने में एक आलोचनात्मक दृष्टि प्रदान करता है और यह स्पष्ट करता है कि सत्य के दावे किस प्रकार सत्ता–संरचनाओं से संबद्ध होते हैं। इस समकालीन आयाम के माध्यम से यह अध्याय यह दिखाने का प्रयास करता है कि अपोह सिद्धांत केवल एक पारंपरिक भाषार्थ–सिद्धांत नहीं है, बल्कि वह बहुलतावाद, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और समकालीन राजनीतिक विमर्शों को समझने के लिए भी एक प्रासंगिक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। इस प्रकार बौद्ध अपोह सिद्धांत सत्य एवं सत्ता के द्वंद्व और उनके संभावित सामंजस्य को समझने में एक जीवंत और अर्थपूर्ण दार्शनिक संसाधन के रूप में उभरता है।

बीज शब्द : अपोह सिद्धांत, भाषा और सत्य, सत्ता एवं धर्म–दर्शन–राजनीति, बहुलतावाद, समकालीन भारतीय चिंतन एवं आयाम

प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक परंपरा में धर्म, दर्शन और राजनीति को प्रायः अलग–थलग क्षेत्रों के रूप में नहीं, बल्कि परस्पर जुड़े हुए आयामों के रूप में समझा गया है। सत्य की खोज, जीवन की व्याख्या और सामाजिक व्यवस्था, ये तीनों ही आपस में गहराई से जुड़े रहे हैं। बौद्ध दर्शन इस संदर्भ में एक अलग और विशिष्ट दृष्टि सामने रखता है, जहाँ सत्य को किसी स्थायी या अपरिवर्तनीय सत्ता के रूप

[1] शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
✉ भीम शंकर मीना, E-mail: iambheemshankar18@gmail.com

में नहीं, बल्कि अनुभव, व्यवहार और विवेक की निरंतर प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। इसी बौद्धिक पृष्ठभूमि में विकसित अपोह सिद्धांत भाषा और अर्थ को समझने का एक मौलिक प्रयास है।

सामान्यतः अपोह सिद्धांत को एक जटिल भाषार्थ सिद्धांत माना जाता है, किंतु इस शोध का उद्देश्य यह दिखाना है कि इसकी प्रासंगिकता केवल बौद्ध ज्ञान, ज्ञान मीमांसा या तर्कशास्त्र तक सीमित नहीं है। समकालीन समय में जब धर्म अपने सत्य–दावों के माध्यम से और राजनीति अपने वैचारिक विमर्शों के द्वारा सत्ता स्थापित करने का प्रयास करती है, तब अपोह सिद्धांत सत्य और सत्ता के इस जटिल संबंध को समझने का एक उपयोगी दार्शनिक साधन बन जाता है। इस अध्याय में अपोह सिद्धांत को एक ऐसे विचार के रूप प्रस्तुत किया गया है, जो आज के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रश्नों से सीधे संवाद करता है।

अपोहवाद का ऐतिहासिक विकास

बौद्ध दर्शन की सामान्य सम्बन्धी अवधारणा श्अपोहवादश की अवकल्पना में शब्द एवं कल्पना अन्यव्यवच्छेदात्मक स्वरूप अभिधर्म व्याकरण, माध्यमिक दर्शन, एवं महायान सूत्रों में विवक्षित शब्दार्थ विषयक चिन्तन का तार्किक एवं दार्शनिक परिणाम है। सर्वप्रथम अपोहवाद का प्रतिपादन द्विङ्नाग ने **प्रमाणसमुच्चय** में किया था। कालांतर में धर्मकीर्ति ने **प्रमाणवार्तिक** में शान्तिरक्षित ने **तत्वसंग्रह** में तथा रत्नकीर्ति ने **अपोहसिद्धि** में इसका प्रतिपादन किया था। आचार्य व्यादि वैयाकरण में यह मानते है कि शब्द परस्पर व्यवच्छेदपूर्वक अभिधेयार्थ का ज्ञान कराता है, क्योंकि शब्द भेदात्मक होता है। व्यादि के अनुसार शब्द का मुख्यार्थ द्रव्य होता है। वाक्य में प्रयोग हुआ शब्द द्रव्यान्तर को निवृत्ति करके अमिधेयार्थ को व्यक्त करता है।श

अपोह सिद्धांत की दार्शनिक पृष्ठभूमि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

बौद्ध भाषा–दर्शन में अपोह सिद्धांत का उद्भव सामान्य (जाति) की समस्या के समाधान के रूप में हुआ। न्याय और मीमांसा के अनुसार शब्दों का अर्थ वास्तविक सार्वभौमिक सत्ता है, किंतु बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद और स्वलक्षणवाद के आधार पर ऐसी किसी सार्वभौमिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता। बौद्ध दृष्टि में केवल स्वलक्षण ही परमार्थतः वास्तविक है, जबकि सामान्य, जाति और वर्गीकरण मानसिक निर्माण हैं।

यहीं से एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है। यदि प्रत्येक वस्तु अद्वितीय है और सामान्य की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, तो भाषा में प्रयुक्त सामान्य शब्दों का अर्थ कैसे समझा जाए? गौ पुरुष वृक्ष अथवा पर्वत जैसे शब्द किसका बोध कराते हैं? यदि गोत्व जैसी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, तो गौ शब्द का प्रयोग किस आधार पर संभव है? आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रश्न का उत्तर अपोह सिद्धांत के माध्यम से दिया। उनके अनुसार शब्द किसी वास्तविक सामान्य का बोध नहीं कराते, बल्कि वे अन्य वस्तुओं की व्यावृत्ति के द्वारा अर्थ का संप्रेषण करते हैं। गौ का अर्थ किसी सकारात्मक सार्वभौमिक सत्ता में नहीं, बल्कि अगौ के निषेध में निहित है। इस प्रकार अर्थ का निर्माण प्रत्यक्ष समानता से नहीं, बल्कि भिन्नता के आधार पर होता है। दिङ्नाग की स्थापना का मूल उद्देश्य यह दिखाना था कि भाषा के सफल प्रयोग के लिए सामान्य की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। मनुष्य वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में नहीं, बल्कि व्यवहारोपयोगी वर्गों में ग्रहण करता है। यही कारण है कि भाषा का संसार और परमार्थ का संसार एक–दूसरे से भिन्न हैं।

धर्मकीर्ति ने इस सिद्धांत को और अधिक विकसित किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि व्यवहार में प्रयुक्त सामान्य वस्तुतः कल्पित हैं, किंतु वे पूरी तरह निराधार नहीं हैं। उनका आधार स्वलक्षणों की अर्थक्रियाकारिता है। किसी वस्तु को हम जिस वर्ग में रखते हैं, वह वर्गीकरण वस्तु की व्यवहारगत उपयोगिता से जुड़ा होता है। इस प्रकार धर्मकीर्ति ने अपोह को केवल भाषिक प्रक्रिया न मानकर ज्ञानमीमांसीय और व्यवहारगत आधार भी प्रदान किया। धर्मकीर्ति के चिंतन में अपोह और विकल्प का संबंध विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार विकल्पात्मक ज्ञान वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं देता, बल्कि एक सामान्यीकृत मानसिक रूप का निर्माण करता है। यही मानसिक रूप भाषा और व्यवहार का आधार बनता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और संज्ञान के बीच एक घनिष्ठ संबंध स्थापित होता है। यद्यपि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की स्थापना अत्यंत प्रभावशाली थी, तथापि इससे कई प्रश्न अनुत्तरित रह गए। विशेष रूप से यह समस्या बनी रही कि यदि अर्थ केवल निषेध है, तो सकारात्मक

ज्ञान का आधार क्या है? क्या केवल व्यावृत्ति के माध्यम से किसी वस्तु का निश्चित बोध संभव है? इन्हीं प्रश्नों ने आगे चलकर रत्नकीर्ति को अपोह सिद्धांत के पुनर्विचार के लिए प्रेरित किया।

बौद्ध दर्शन में अपोह सिद्धांत का केंद्रीय आग्रह मूलतः सहज है,शब्द किसी वस्तु का अर्थ इसलिए व्यक्त नहीं करते कि उनमें कोई स्थायी या सार्वभौमिक सत्ता निहित हो, बल्कि इसलिए कि वे हमें यह बोध कराते हैं कि कोई वस्तु किन–किन बातों से भिन्न है या क्या नहीं है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने इस विचार को भाषा और ज्ञान के व्यवहारिक संदर्भ में विकसित किया। उनके अनुसार, भाषा का उद्देश्य यथार्थ की हूबहू नकल करना नहीं, बल्कि मानवीय व्यवहार को संभव बनाना है। आगे चलकर शांतरक्षित और कमलशील ने इस सिद्धांत को और व्यापक दार्शनिक संदर्भ दिया। उन्होंने दिखाया कि जिस प्रकार यथार्थ स्वयं शून्य और संबंधात्मक है, उसी प्रकार भाषा और अर्थ भी स्थायी नहीं हैं। रत्नकीर्ति ने अपोह सिद्धांत को तर्कशास्त्रीय स्तर पर और अधिक स्पष्ट किया, किंतु उसका मूल भाव यही बना रहा कि अर्थ कोई तैयार वस्तु नहीं, बल्कि समझ की एक प्रक्रिया है। इस परंपरा को यदि ध्यान से पढ़ा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि अपोह सिद्धांत केवल तकनीकी विमर्श नहीं, बल्कि मानवीय अनुभव से जुड़ा हुआ एक जीवंत विचार है।

भाषा, सत्य और सत्ता : अपोह की व्यवहारिक व्याख्या

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में सत्य का प्रश्न सदैव विश्वास और विवेक के द्वंद्व से जुड़ा रहा है। अपोह सिद्धांत इस द्वंद्व को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर प्रदान करता है। यहाँ सत्य को किसी अंतिम, अपरिवर्तनीय सत्ता के रूप में नहीं, बल्कि व्यवहारिक और भाषिक संदर्भों में उभरने वाली प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है। धार्मिक परंपराओं में सत्य को अक्सर निरपेक्ष और सार्वकालिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किंतु अपोह सिद्धांत यह संकेत देता है कि ऐसे सत्य–दावे भी भाषा के माध्यम से ही निर्मित और संप्रेषित होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि धार्मिक सत्य पूर्णतः असत्य हैं, बल्कि यह कि वे विशिष्ट भाषिक और सांस्कृतिक संदर्भों में अर्थवान होते हैं। इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत विश्वास और विवेक के बीच एक संवादात्मक संतुलन स्थापित करता

अपोह सिद्धांत हमें यह सोचने के लिए विवश करता है कि सत्य वास्तव में क्या है। यदि शब्द स्वयं किसी स्थायी सत्ता की ओर संकेत नहीं करते, तो सत्य भी कोई अंतिम और अपरिवर्तनीय वस्तु नहीं हो सकता। यह दृष्टि आज के समय में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है, जहाँ सत्य के नाम पर अनेक प्रकार के धार्मिक और राजनीतिक दावे किए जाते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भाषा का उपयोग मात्र संवाद तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह सत्ता को स्थापित और वैध ठहराने का माध्यम भी बन जाती है। किसी विशेष अर्थ को 'सही' घोषित करना और अन्य अर्थों को 'गलत' या 'अस्वीकार्य' ठहराना सत्ता के कार्य करने का एक सामान्य तरीका है। अपोह सिद्धांत इस प्रक्रिया को समझने में सहायता करता है, क्योंकि वह यह दिखाता है कि अर्थ–निर्माण हमेशा चयन और निषेध के माध्यम से होता है। इस प्रकार, सत्य और सत्ता के बीच का संबंध हमें कहीं अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है।

धर्म और राजनीति के संदर्भ में अपोह सिद्धांत

धर्म, दर्शन और राजनीति को अक्सर अलग–अलग क्षेत्रों के रूप में देखा जाता है, किंतु भारतीय दार्शनिक परंपरा में ये तीनों गहराई से जुड़े हुए हैं। बौद्ध दर्शन में यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक नैतिकता, दार्शनिक तर्क और राजनीतिक व्यवहार भाषा के माध्यम से निर्मित होते हैं। अपोह सिद्धांत यह दिखाता है कि जब कोई राजनीतिक या धार्मिक विचार स्वयं को 'सत्य' के रूप में स्थापित करता है, तो वह अनिवार्य रूप से कुछ अन्य दृष्टियों का निषेध करता है। इस प्रकार सत्य का दावा सत्ता के निर्माण से जुड़ जाता है। समकालीन राजनीति में विचारधारा, राष्ट्रवाद और पहचान की राजनीति को समझने में अपोह सिद्धांत एक महत्वपूर्ण विश्लेषणात्मक उपकरण सिद्ध होता है।

धार्मिक परंपराएँ सामान्यतः अपने सिद्धांतों को शाश्वत और निर्विवाद सत्य के रूप में प्रस्तुत करती रही हैं। किंतु अपोह सिद्धांत इस दावे को सहज रूप से प्रश्नांकित करता है। यदि अर्थ स्वयं निषेध और भेद पर आधारित है, तो किसी भी धार्मिक कथन को पूर्ण और अंतिम सत्य मानना दार्शनिक रूप से कठिन हो जाता है। यह दृष्टि धार्मिक बहुलता और सह–अस्तित्व के पक्ष में एक मजबूत वैचारिक आधार प्रदान करती है।

राजनीतिक जीवन में भी यही स्थिति दिखाई देती है। 'हम' और 'वे' की पहचान भाषा के माध्यम से निर्मित होती है। राजनीतिक आंदोलनों और लामबंदी में यह प्रक्रिया और अधिक स्पष्ट हो जाती है। अपोह सिद्धांत इस बात को समझने में सहायता करता है कि किस प्रकार भाषा लोगों को जोड़ने के साथ–साथ अलग भी करती है। इस संदर्भ में अपोह सिद्धांत केवल भाषिक नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक अर्थ रखता है।

शांतरक्षित और बहुलतावादी दृष्टि

शांतरक्षित की दार्शनिक पद्धति अपोह सिद्धांत को बहुलतावादी संवाद के व्यापक संदर्भ में स्थापित करती है। शान्तरक्षित के मतानुसार 'स्वलक्षण' उपचार से शब्द का विषय होता है। शब्द विकल्प प्रतिबिम्बि को उत्पन्न करता है। यह प्रतिबिम्बि ही शब्द का स्वार्थ होता है, स्वलक्षण रूप स्वार्थ मे अर्थान्तर से व्यवच्छिन्न प्रतिबिम्बि की व्यावृत्ति होती है। शान्तरक्षित इसी आधार पर अपोहवाद का दो भेद करते है– 1.**पर्युदास** (सापेक्ष अभाव) 2. **निषेध या प्रसज्य प्रतिषेध** (आत्यन्तिक अभाव)। पर्युदास के भी दो भेद हैं– 1 **बुद्धयात्मन्** (प्रत्यय–भेद पर आधारित है) और 2. **अर्थात्मन्** (वस्तु–भेद पर आधारित है)। शान्तरक्षित के अनुसार बुद्धयात्मन् ही वास्तविक अपोह है। यही किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर वास्तविक वस्तु की भ्रान्ति को जन्म देता है। अत इसे अन्यापोह कहा जाता है। उन्होंने विभिन्न दार्शनिक परंपराओं के साथ संवाद करते हुए यह दिखाया कि अपोह सिद्धांत केवल बौद्ध दर्शन की आंतरिक समस्या नहीं है, बल्कि वह भारतीय दर्शन की समग्र भाषिक और ज्ञानमीमांसीय समस्याओं से जुड़ा हुआ है।

यह बहुलतावादी दृष्टि समकालीन समाज में विशेष रूप से प्रासंगिक है, जहाँ विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टियाँ सह–अस्तित्व में हैं। अपोह सिद्धांत यहाँ संवाद, सहिष्णुता और आलोचनात्मक आत्मचिंतन का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है।

रत्नकीर्ति और तार्किक सूक्ष्मता

रत्नकीर्ति ने अपोह सिद्धांत को तार्किक स्तर पर अत्यंत सूक्ष्म रूप में विकसित किया। रत्नकीर्ति ने 'अपोह–सिद्धि' में अपोह की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अपोह का अर्थ– **'विशिष्टापोह'** है और शब्द का अर्थ है– **'अन्य व्यावृत्ति विशिष्ट अपोह**।' रत्नकीर्ति कहते हैं कि शब्द न तो पूर्णतया विधि है और न केवल अन्य की व्यावृत्ति ही है किन्तु 'अन्य के अपोह से युक्त विधि' ही शब्द का अर्थ है। अतः दोनों परस्पर भिन्न पक्षों पर लागू होने वाला दोष निरवकाश हो जाते हैं। इसलिए 'गाय' शब्द से अर्थ का बोध वास्तव में अन्य व्यावृत्त अर्थ का बोध कहा जाता है। यद्यपि अन्य व्यावृत्त का शब्दतः व्यावृत्त अर्थ का बोध कहा जाता है। तथापि विशेषणभूत अन्यापोह का बोध होता ही है क्योंकि 'गाय' शब्द अ–गो–निवृत्ति अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। रत्नकीर्ति के कथन का यह भाव है कि शब्दों के द्वारा न तो पहले अन्वय विधान होता है, तत्पश्चात् अतद्विवृत्ति और न ही पहले अतद्भिवृत्ति तत्पश्चात् अन्वय–विधान। शब्द का अर्थ एक ही साथ अन्वय– व्यतिरेक दोनों होता है। 'गौ' शब्द का अर्थ एक ही समय 'गौ' तथा 'अगो–निषेध' दोनों है।

उनके चिंतन में अपोह केवल भाषिक सिद्धांत नहीं रहता, बल्कि ज्ञान की संपूर्ण संरचना को समझने का एक सशक्त माध्यम बन जाता है। रत्नकीर्ति के यहाँ नकार केवल अभाव नहीं, बल्कि अर्थ–निर्माण की एक सक्रिय प्रक्रिया है। यह तार्किक सूक्ष्मता समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन के साथ संवाद की संभावनाएँ भी खोलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपोह सिद्धांत केवल ऐतिहासिक महत्व का विषय नहीं, बल्कि आधुनिक दार्शनिक विमर्शों के साथ भी सार्थक संवाद कर सकता है।

भारतीय दार्शनिक परंपरा और राजनीतिक चिंतन

भारतीय दार्शनिक परंपरा में राजनीतिक चिंतन को केवल राज्य, शासन और सत्ता की तकनीकी व्यवस्था तक सीमित नहीं माना गया है। यहाँ राजनीति का संबंध नैतिकता, धर्म, न्याय और लोककल्याण से भी जोड़ा गया है। प्राचीन भारतीय चिंतन में यह धारणा व्यापक रूप से स्वीकार की गई कि शासन का उद्देश्य केवल सामाजिक नियंत्रण स्थापित करना नहीं, बल्कि ऐसी व्यवस्था निर्मित करना है जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का समुचित विकास संभव हो सके। इसी कारण भारतीय दर्शन में राजनीतिक विचारों का आधार प्रायः नैतिक मूल्यों और मानवीय कल्याण की अवधारणाओं पर निर्मित हुआ है।

बौद्ध दर्शन इस संदर्भ में एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। बौद्ध राजनीतिक दृष्टि का मूल आधार करुणा, अहिंसा और मध्यम मार्ग की अवधारणा है। बुद्ध ने सत्ता को स्वयं में कोई

अंतिम लक्ष्य नहीं माना, बल्कि उसे मानवीय दुःखों को कम करने और सामाजिक संतुलन बनाए रखने का एक साधन माना। बौद्ध चिंतन में राज्य और शासन का महत्व तभी तक है, जब तक वह जनकल्याण, न्याय और सामाजिक समरसता को प्रोत्साहित करता है। इस दृष्टि से बौद्ध राजनीतिक विचार शक्ति–केन्द्रित राजनीति के स्थान पर नैतिक राजनीति की स्थापना का प्रयास करता है। करुणा बौद्ध दर्शन का केंद्रीय नैतिक सिद्धांत है और इसका राजनीतिक महत्व भी अत्यंत व्यापक है। करुणा का अर्थ केवल सहानुभूति या दया नहीं है, बल्कि दूसरों के दुःख को समझते हुए उसके निवारण के लिए सक्रिय प्रयास करना है। जब शासन व्यवस्था करुणा के सिद्धांत पर आधारित होती है, तब उसका उद्देश्य केवल प्रशासनिक नियंत्रण नहीं रहता, बल्कि वह समाज के कमजोर, वंचित और उपेक्षित वर्गों के कल्याण की दिशा में भी कार्य करती है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन शासन को दमन और नियंत्रण के माध्यम के रूप में नहीं, बल्कि लोकमंगल और सामाजिक उत्तरदायित्व के साधन के रूप में देखता है।

भारतीय इतिहास में सम्राट अशोक का उदाहरण बौद्ध राजनीतिक आदर्शों के व्यावहारिक रूप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। कलिंग युद्ध के पश्चात अशोक ने जिस प्रकार हिंसा और विस्तारवादी नीति का त्याग कर 'धम्म' आधारित शासन की स्थापना का प्रयास किया, वह राजनीतिक इतिहास की एक अनूठी घटना है। अशोक ने प्रशासन को केवल राजकीय शक्ति के प्रदर्शन का माध्यम नहीं बनाया, बल्कि नैतिक मूल्यों, धार्मिक सहिष्णुता और जनकल्याण को शासन का आधार बनाया। उनके शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि वे विभिन्न धार्मिक समुदायों के प्रति सम्मान, संवाद और सह–अस्तित्व की भावना को प्रोत्साहित करते थे। इस दृष्टि से अशोक का शासन आधुनिक बहुलतावादी और लोकतांत्रिक मूल्यों का एक प्रारंभिक स्वरूप प्रतीत होता है। बौद्ध राजनीतिक चिंतन का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ उसका संबंध है। बुद्ध ने अपने संघ की व्यवस्था में सामूहिक निर्णय, संवाद और सहमति की पद्धति को महत्व दिया। संघ के भीतर विचार–विमर्श, नियम निर्माण और विवाद समाधान की प्रक्रियाएँ किसी एक व्यक्ति की निरंकुश सत्ता पर आधारित नहीं थीं। इस कारण अनेक विद्वान बौद्ध संघ को लोकतांत्रिक चेतना के प्रारंभिक रूपों में से एक मानते हैं। समकालीन लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी संवाद, सहिष्णुता, समानता और सहभागिता जैसे मूल्य अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं, जिनकी वैचारिक जड़ें बौद्ध परंपरा में स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

अपोह सिद्धांत के संदर्भ में यह राजनीतिक विमर्श और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। अपोह सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक और राजनीतिक पहचानें किसी शाश्वत या प्राकृतिक आधार पर निर्मित नहीं होतीं, बल्कि वे भाषा और अर्थ–निर्माण की प्रक्रियाओं का परिणाम होती हैं। 'राष्ट्र', 'समाज', 'जनता', 'बहुसंख्यक' और 'अल्पसंख्यक' जैसी राजनीतिक अवधारणाएँ भी भाषिक संरचनाओं के माध्यम से निर्मित होती हैं। इस प्रकार अपोह सिद्धांत राजनीतिक विचारधाराओं और सामाजिक पहचानों की आलोचनात्मक समीक्षा का एक प्रभावशाली दार्शनिक आधार प्रदान करता है। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन और अपोह सिद्धांत आज भी लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और समावेशी राजनीति के विमर्श में महत्वपूर्ण प्रासंगिकता रखते हैं।

अपोह सिद्धांत की दार्शनिक प्रासंगिकता

समकालीन संदर्भ में जहाँ भाषा, अर्थ और ज्ञान के प्रश्न पुनःदार्शनिक विमर्श के केंद्र में हैं, अपोह सिद्धांत की प्रासंगिकता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि अपोहवाद न केवल बौद्ध दार्शनिक परंपरा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, बल्कि वर्तमान समय में भाषा–दर्शन और ज्ञानमीमांसा से जुड़े प्रश्नों पर पुनर्विचार हेतु भी एक सार्थक दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

अपोहवाद भाषा को स्थिर और शाश्वत सत्ता से मुक्त करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि अर्थ कोई जड़ वस्तु नहीं, अपितु एक गतिशील, व्यवहारिक एवं सापेक्ष प्रक्रिया है। इस प्रकार अपोहवाद बौद्ध दर्शन की मौलिकता एवं शब्दार्थ–मीमांसा में नवीन दिशा का संकेत देता है।

समकालीन संदर्भ : बहुलता, धर्मनिरपेक्षता और न्याय

वर्तमान भारतीय समाज धार्मिक, सांस्कृतिक और वैचारिक स्तरों पर गहरी बहुलता से युक्त है। ऐसे समाज में धर्मनिरपेक्षता, समानता और न्याय के प्रश्न अत्यंत संवेदनशील हो जाते हैं। अपोह सिद्धांत हमें यह समझने में सहायता करता है कि सामाजिक पहचानें किस प्रकार भाषा और निषेध के माध्यम से निर्मित होती हैं।

यह दृष्टि वैश्विक स्तर पर संवाद, सहिष्णुता और सह–अस्तित्व के लिए एक दार्शनिक आधार प्रदान करती है। अपोह सिद्धांत यहाँ केवल बौद्ध दर्शन तक सीमित न रहकर, एक व्यापक मानवीय दृष्टिकोण के रूप में उभरता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो अपोह सिद्धांत सामाजिक न्याय की दिशा में सोचने के लिए एक वैचारिक आधार प्रदान करता है। यह हमें यह प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करता है कि किन अर्थों को स्वीकार किया गया है और किन्हें हाशिये पर रखा गया है। इस प्रकार, अपोह सिद्धांत गांधी और आंबेडकर जैसे चिंतकों के विचारों से भी एक प्रकार का अप्रत्यक्ष संवाद स्थापित करता है, जहाँ सत्य और न्याय को मानवीय अनुभव के संदर्भ में समझा गया है।

अपोह सिद्धांत और वैचारिक प्रभुत्व की संरचना

समकालीन समाज में सत्ता केवल राजनीतिक संस्थाओं, कानूनी व्यवस्थाओं या शासकीय संरचनाओं तक सीमित नहीं रह गई है। वह विचारों, अर्थों और मूल्यों के माध्यम से भी कार्य करती है, जिन्हें धीरे–धीरे 'सामान्य', 'स्वाभाविक' और 'निर्विवाद सत्य' के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया को वैचारिक प्रभुत्व के रूप में समझा जा सकता है, जहाँ कुछ विशेष विचारधाराएँ सामाजिक चेतना पर इस प्रकार प्रभाव स्थापित कर लेती हैं कि उनके विकल्प सहज रूप से दिखाई ही नहीं देते। इस वैचारिक प्रभुत्व के निर्माण, विस्तार और स्थायित्व में भाषा की भूमिका अत्यंत निर्णायक होती है। अपोह सिद्धांत इस पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए एक सूक्ष्म और आलोचनात्मक दार्शनिक दृष्टि प्रदान करता है।

अपोह सिद्धांत के अनुसार किसी भी शब्द या अर्थ का निर्माण सकारात्मक रूप से नहीं, बल्कि निषेध और भिन्नता के माध्यम से होता है। अर्थात् कोई भी अर्थ इस आधार पर स्थापित होता है कि वह क्या नहीं है। यही संरचना वैचारिक प्रभुत्व के स्तर पर भी कार्य करती है। जब कोई विचारधारा स्वयं को 'सत्य' के रूप में प्रस्तुत करती है, तो वह अनिवार्य रूप से अन्य संभावित अर्थों, दृष्टियों और व्याख्याओं का निषेध करती है। धीरे–धीरे यह निषेध इतना स्वाभाविक हो जाता है कि वैकल्पिक विचार 'असंगत', 'अव्यावहारिक' या 'खतरनाक' प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार अपोह सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि वैचारिक प्रभुत्व केवल प्रत्यक्ष बल या दमन के माध्यम से नहीं, बल्कि भाषिक अर्थ–निर्माण की सूक्ष्म और निरंतर प्रक्रिया के द्वारा स्थापित होता है।

समकालीन समय में धर्म और राजनीति के क्षेत्र में यह प्रक्रिया और भी अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। धार्मिक अवधारणाएँ जब स्वयं को एकमात्र और अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करती हैं, तब वे अन्य धार्मिक, अधार्मिक या वैकल्पिक आध्यात्मिक दृष्टियों को अप्रत्यक्ष रूप से निष्कासित करती हैं। इसी प्रकार राजनीतिक विचारधाराएँ 'राष्ट्र', 'जनता', 'विकास', 'सुरक्षा' और 'पहचान' जैसे शब्दों के माध्यम से कुछ विशेष अर्थों को वैध और स्वाभाविक ठहराती हैं, जबकि अन्य अनुभवों, पीड़ाओं और दृष्टियों को हाशिये पर ढकेल देती हैं। अपोह सिद्धांत हमें यह समझने में सहायता करता है कि यह बहिष्करण किस प्रकार भाषा के स्तर पर घटित होता है और किस प्रकार कुछ अर्थ सत्ता से जुड़कर प्रभुत्वशाली सत्य का रूप धारण कर लेते हैं। इस संदर्भ में अपोह सिद्धांत सत्य और सत्ता के बीच चलने वाले द्वंद्व को समझने का एक महत्वपूर्ण साधन बन जाता है। यह हमें यह देखने की दृष्टि प्रदान करता है कि समकालीन समाज में सत्य कोई निष्पक्ष या तटस्थ सत्ता नहीं, बल्कि भाषिक, वैचारिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से निर्मित एक संरचना है। साथ ही, अपोह सिद्धांत इस संभावना की ओर भी संकेत करता है कि यदि अर्थ–निर्माण की प्रक्रिया को समझा जाए, तो वैचारिक प्रभुत्व को चुनौती देना और अधिक समावेशी, संवादात्मक तथा मानवीय विमर्श की दिशा में आगे बढ़ना संभव है। इस प्रकार अपोह सिद्धांत समकालीन समय में सत्य और सत्ता के द्वंद्व को केवल उजागर ही नहीं करता, बल्कि उनके संभावित सामंजस्य की दार्शनिक संभावना भी प्रस्तुत करता है।

समकालीन भारतीय चिंतक -गांधी और अम्बेडकर से संवाद

बौद्ध अपोह सिद्धांत को यदि समकालीन भारतीय चिंतन के संदर्भ में पुनर्पाठ किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि इसकी वैचारिक संभावनाएँ केवल भाषार्थ–दर्शन तक सीमित नहीं हैं। आधुनिक भारत के दो प्रमुख चिंतक महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर सत्य, धर्म, न्याय और सामाजिक परिवर्तन के प्रश्नों पर गहन चिंतन प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि गांधी और अम्बेडकर के दृष्टिकोणों में अनेक बिंदुओं पर मतभेद दिखाई देते हैं, फिर भी दोनों ही चिंतक सामाजिक यथार्थ को समझने और परिवर्तित करने के लिए भाषा, विचार और अनुभव की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत के साथ उनका एक सार्थक संवाद स्थापित किया जा सकता है।

महात्मा गांधी के चिंतन का केंद्रीय आधार सत्य था। गांधी के लिए सत्य कोई स्थिर और अंतिम दार्शनिक अवधारणा नहीं था, बल्कि वह जीवन के अनुभवों के माध्यम से निरंतर खोजी जाने वाली प्रक्रिया थी। उन्होंने स्वयं अपने जीवन को ष्सत्य के प्रयोगष् के रूप में परिभाषित किया। गांधी के अनुसार मनुष्य सत्य की पूर्ण प्राप्ति नहीं कर सकता, बल्कि वह उसकी ओर निरंतर अग्रसर होता है। यह दृष्टि अपोह सिद्धांत के साथ एक रोचक समानता प्रस्तुत करती है। अपोह सिद्धांत भी किसी स्थायी और सार्वभौमिक अर्थ को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अर्थ को भिन्नता, निषेध और व्यवहार के माध्यम से निर्मित मानता है। जिस प्रकार गांधी सत्य को एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, उसी प्रकार अपोह सिद्धांत अर्थ को एक निरंतर निर्मित होने वाली प्रक्रिया के रूप में समझता है। गांधी की धार्मिक दृष्टि भी बहुलतावादी थी। वे विभिन्न धर्मों को सत्य की ओर जाने वाले अलग–अलग मार्ग मानते थे। उनके अनुसार किसी एक धार्मिक परंपरा को अंतिम और पूर्ण सत्य का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। अपोह सिद्धांत भी इस प्रकार की बहुलतावादी चेतना को दार्शनिक आधार प्रदान करता है, क्योंकि वह यह संकेत करता है कि कोई भी अर्थ या सत्य–दावा अपने संदर्भ से स्वतंत्र नहीं होता। इस प्रकार गांधी और अपोह सिद्धांत दोनों संवाद, सहिष्णुता और आत्मालोचन की संस्कृति को प्रोत्साहित करते हैं।

दूसरी ओर डॉ. भीमराव अम्बेडकर का चिंतन सामाजिक न्याय, समानता और मानव गरिमा के प्रश्नों पर केंद्रित था। अम्बेडकर ने भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत असमानताओं और सामाजिक बहिष्करण की गहन आलोचना की। उनके अनुसार अनेक सामाजिक संरचनाएँ भाषा, धर्म और परंपरा के माध्यम से वैधता प्राप्त करती हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के लिए उन वैचारिक संरचनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा आवश्यक है, जो असमानता को बनाए रखती हैं। अपोह सिद्धांत के आलोक में अम्बेडकर के चिंतन को समझना विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। अपोह सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि सामाजिक श्रेणियाँ और पहचानें प्राकृतिक या शाश्वत नहीं होतीं, बल्कि वे भाषिक और वैचारिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्मित होती हैं। जाति, ऊँच–नीच, शुद्ध–अशुद्ध और श्रेष्ठ–हीन जैसी अवधारणाएँ भी सामाजिक अर्थ–निर्माण की प्रक्रियाओं का परिणाम हैं। अम्बेडकर ने इन्हीं निर्मित अवधारणाओं को चुनौती दी और यह दिखाने का प्रयास किया कि सामाजिक न्याय तभी संभव है, जब इन वैचारिक संरचनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा की जाए। इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत सामाजिक बहिष्करण और वैचारिक प्रभुत्व को समझने का एक प्रभावशाली दार्शनिक उपकरण सिद्ध होता है।

अम्बेडकर का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। उन्होंने बौद्ध धर्म को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि उसमें समानता, तर्कशीलता और मानवीय गरिमा के लिए व्यापक स्थान था। बौद्ध दर्शन में किसी जन्मजात श्रेष्ठता या स्थायी सामाजिक श्रेणी का समर्थन नहीं किया जाता। अपोह सिद्धांत भी स्थायी और शाश्वत सार्वभौमिकताओं के निषेध के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को अधिक आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार अम्बेडकर के सामाजिक न्याय के कार्यक्रम और अपोह सिद्धांत की भाषिक–दार्शनिक संरचना के बीच एक महत्वपूर्ण वैचारिक सामंजस्य दिखाई देता है।

गांधी और अम्बेडकर के विचारों के साथ अपोह सिद्धांत का संवाद यह स्पष्ट करता है कि भाषा केवल विचारों को व्यक्त करने का माध्यम नहीं है, बल्कि वह सामाजिक यथार्थ को निर्मित करने वाली शक्ति भी है। 'सत्य', 'धर्म', 'न्याय', 'समानता' और 'स्वतंत्रता' जैसे शब्द विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में नए अर्थ ग्रहण करते हैं। अपोह सिद्धांत हमें यह समझने की दृष्टि प्रदान करता है कि ये अर्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं और किस प्रकार वे सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि गांधी की सत्य–चेतना, अम्बेडकर की न्याय–दृष्टि और बौद्ध अपोह सिद्धांत के बीच एक गहरा वैचारिक संवाद संभव है। यह संवाद न केवल भारतीय बौद्धिक परंपरा की समृद्धि को उजागर करता है, बल्कि समकालीन समाज में लोकतंत्र, बहुलतावाद, सामाजिक न्याय और मानवीय सह–अस्तित्व के प्रश्नों को समझने के लिए भी एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

आलोचनाएँ और संभावनाएँ

अपोह सिद्धांत पर यह आपत्ति की जाती रही है कि वह भाषा के सकारात्मक पक्ष को पर्याप्त महत्व नहीं देता। किंतु समकालीन दार्शनिक विमर्शों को देखते हुए यह आलोचना उतनी निर्णायक नहीं प्रतीत

होती। आज यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि अर्थ स्थिर नहीं होता और वह हमेशा संदर्भ से जुड़ा रहता है। इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत की प्रासंगिकता और भी स्पष्ट हो जाती है।

अपोह सिद्धांत की सबसे बड़ी संभावना यह है कि वह धर्म, दर्शन और राजनीति के बीच एक संतुलित संवाद की संभावना खोलता है। वह किसी एक क्षेत्र की प्रधानता स्थापित करने के बजाय सत्य और सत्ता के बीच विवेकपूर्ण संबंध की ओर संकेत करता है।

उपसंहार

प्रस्तुत शोध पत्र में बौद्ध दर्शन के अपोह सिद्धांत का समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों में पुनर्पाठ करने का प्रयास किया गया है। सामान्यतः अपोह सिद्धांत को बौद्ध भाषार्थ–दर्शन और ज्ञानमीमांसा की एक विशिष्ट अवधारणा के रूप में देखा जाता है, किंतु इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसकी प्रासंगिकता केवल शब्दार्थ–निर्धारण की समस्या तक सीमित नहीं है। वास्तव में यह सिद्धांत भाषा, ज्ञान, सत्य, सत्ता और सामाजिक यथार्थ के बीच विद्यमान जटिल संबंधों को समझने का एक व्यापक दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शांतरक्षित और रत्नकीर्ति द्वारा विकसित अपोह सिद्धांत का मूल प्रतिपादन यह है कि शब्दों का अर्थ किसी स्थायी, शाश्वत और सार्वभौमिक सत्ता से नहीं, बल्कि भिन्नता, निषेध और व्यवहारिक संदर्भों के माध्यम से निर्मित होता है। यह दृष्टि भारतीय दर्शन में प्रचलित सार्वभौमिक सत्ता की अवधारणा को चुनौती देती है तथा यह स्पष्ट करती है कि अर्थ कोई पूर्वनिर्धारित या स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि वह मानवीय अनुभव, सामाजिक व्यवहार और भाषिक प्रयोग की प्रक्रिया में निरंतर निर्मित होता रहता है। इसी कारण अपोह सिद्धांत भाषा को एक जीवंत और गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखने की प्रेरणा देता है।

समकालीन समाज में सत्य का प्रश्न केवल दार्शनिक जिज्ञासा का विषय नहीं रह गया है, बल्कि वह सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्षों से भी गहराई से जुड़ गया है। वर्तमान समय में विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक और वैचारिक समूह अपने–अपने सत्य–दावों के माध्यम से सामाजिक वैधता और प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। ऐसे संदर्भ में अपोह सिद्धांत यह समझने का अवसर प्रदान करता है कि सत्य के दावे किस प्रकार भाषा के माध्यम से निर्मित होते हैं और किस प्रकार वे सत्ता–संरचनाओं से जुड़कर सामाजिक चेतना को प्रभावित करते हैं। इस दृष्टि से अपोह सिद्धांत केवल भाषिक विश्लेषण का उपकरण नहीं है, बल्कि वह सत्य और सत्ता के संबंधों की आलोचनात्मक समीक्षा का भी एक प्रभावशाली माध्यम बन जाता है। अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अपोह सिद्धांत बहुलतावादी और लोकतांत्रिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। यदि अर्थ और सत्य को पूर्णतः स्थिर और अंतिम न मानकर संवाद, अनुभव और संदर्भ के आधार पर समझा जाए, तो विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक और वैचारिक दृष्टियों के बीच सह–अस्तित्व और संवाद की संभावना अधिक मजबूत होती है। शांतरक्षित की समन्वयवादी दृष्टि तथा बौद्ध परंपरा की संवादात्मक प्रवृत्ति इस तथ्य को और अधिक पुष्ट करती है। इस प्रकार अपोह सिद्धांत वैचारिक कट्टरता और बौद्धिक एकाधिकार के स्थान पर बहुलता, सहिष्णुता और आलोचनात्मक विवेक की संस्कृति को प्रोत्साहित करता है।

सामाजिक न्याय के संदर्भ में भी अपोह सिद्धांत की उपयोगिता उल्लेखनीय है। यह सिद्धांत हमें यह समझने की दृष्टि प्रदान करता है कि सामाजिक पहचानें, वर्गीकरण और श्रेणियाँ किसी प्राकृतिक या शाश्वत आधार पर निर्मित नहीं होतीं, बल्कि वे भाषिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का परिणाम होती हैं। जाति, धर्म, समुदाय, राष्ट्र और पहचान जैसी अवधारणाएँ भी अर्थ–निर्माण की इसी प्रक्रिया से निर्मित होती हैं। परिणामस्वरूप अपोह सिद्धांत सामाजिक असमानताओं, बहिष्करण और वैचारिक प्रभुत्व की संरचनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा के लिए एक प्रभावशाली दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि इसके माध्यम से गांधी के सत्य–विमर्श और अम्बेडकर के सामाजिक न्याय संबंधी चिंतन के साथ भी एक सार्थक संवाद स्थापित किया जा सकता है। वैश्वीकरण, डिजिटल संचार और सूचना–प्रौद्योगिकी के वर्तमान युग में भाषा की शक्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हो गई है। सोशल मीडिया, जनसंचार माध्यम और राजनीतिक प्रचार–तंत्र के माध्यम से अर्थों का निर्माण और पुनर्निर्माण निरंतर हो रहा है। ऐसे समय में अपोह सिद्धांत की यह अंतर्दृष्टि कि अर्थ निषेध और भिन्नता के माध्यम से निर्मित होता है, अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है। यह हमें सतही अर्थों को स्वीकार करने

के बजाय उनके पीछे कार्यरत वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं को समझने की प्रेरणा देती है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बौद्ध अपोह सिद्धांत केवल भारतीय दर्शन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय नहीं है, बल्कि समकालीन समाज को समझने का भी एक सशक्त बौद्धिक उपकरण है। यह सिद्धांत भाषा, सत्य और सत्ता के संबंधों को नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है तथा बहुलतावाद, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक सह–अस्तित्व जैसे मूल्यों के लिए एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अपोह सिद्धांत अतीत की दार्शनिक विरासत होने के साथ–साथ वर्तमान और भविष्य के लिए भी एक जीवंत, प्रासंगिक और अर्थपूर्ण चिंतन–स्रोत के रूप में स्थापित होता है। इस अध्ययन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि अपोह सिद्धांत पर आगे सांस्कृतिक राजनीति, विमर्श–सिद्धांत, उत्तर–आधुनिक भाषा–दर्शन, पहचान की राजनीति तथा समकालीन लोकतांत्रिक विमर्शों के संदर्भ में और अधिक शोध की व्यापक संभावनाएँ उपलब्ध हैं। इसलिए अपोह सिद्धांत को केवल एक पारंपरिक भाषार्थ–सिद्धांत के रूप में न देखकर, एक ऐसे दार्शनिक प्रतिमान के रूप में समझना चाहिए जो वर्तमान समय की जटिल सामाजिक और राजनीतिक चुनौतियों को समझने में भी महत्वपूर्ण योगदान देने की क्षमता रखता है।

संदर्भ सूची

Ambedkar, B. R. (2014). *Annihilation of Caste*. New Delhi: Navayana.

Dravid, Raja Ram. (2001). *The Problem of Universals in Indian Philosophy*. Varanasi: Motilal Banarsidass

Foucault, M. (1980). *Power/Knowledge*. New York: Pantheon.

Gandhi, M. K. (2001). *Hind Swaraj*. Ahmedabad: Navajivan Publishing House.

Matilal, B.K. (1990). *Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge*.

Mohanty, J. N. (1992). *Reason and tradition in Indian thought*. Oxford: Clarendon Press.

उपाध्याय, बलदेव. (1954). *बौद्ध–दर्शन–मीमांसा.* चौखम्बा

दिङ्नाग. *प्रमाणसमुच्चय*

धर्मकीर्ति. *प्रमाणवार्त्तिक* (स्ववृत्ति सहित)।

बिजलवान, चक्रधर. (1983). *भारतीय न्यायशास्त्र.* लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

रत्नकीर्ति, अनुवाद और व्याख्या, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय. (1995). *अपोहसिद्धि.* वाराणसी : केन्द्रिय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

शर्मा, अम्बिकादत्त. (2007). *बौद्ध प्रमाण दर्शन,* सागर : विश्वविद्यालय प्रकाशन

शान्तरक्षित, *तत्वसंग्रह* (कमलशीलकृत पञ्जिका सहित)